॥ ओ३म् ॥

# वैदिक धर्म GUIDE

मदन रहेजा

॥ ओ३म् ॥

# वैदिक धर्म
# Guide

( वैदिक धर्म की संक्षिप्त जानकारी )

लेखक

मदन रहेजा

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

**प्रकाशक** : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
4408, नई सड़क, दिल्ली-110006, भारत
दूरभाष : 23977216, 23914945
E-mail : ajayarya16@gmail.com
Website : www.vedicbooks.com

वैदिक-ज्ञान-प्रकाश का गरिमापूर्ण 93वाँ वर्ष (1925-2018)

**संस्करण** : 2018
**मूल्य** : 20.00 रुपये
**मुद्रक** : अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली।

Vedic Dharm *by* Madan Raheja

# वैदिक धर्म
# Guide

## (वैदिक धर्म की संक्षिप्त जानकारी)

–मदन रहेजा

ईश्वर अनादि काल से जगत् की रचना करता है और आगे भी इसी तरह करता रहेगा। मनुष्य भी सदा से ही सुख की कामना करता है, दुःख की नहीं। वह दुःख से बचने के लिये अनेक प्रकार के उपाय करता रहता है, परन्तु हमेशा अपनी अल्पज्ञता के कारण अनेक प्रकार की गलतियाँ करता रहता है। इसके कारण वह लख चौरासी (चौरासी लाख योनियाँ) के चक्कर में चकराता रहता है। इस अनादि चक्रव्यूह से बचने का बस एक ही तरीका है कि वह बार-बार के जन्म-मृत्यु से बचता रहे। सर्वविदित है कि जिसका जन्म होता है, वही मृत्यु को प्राप्त होता है और जो उत्पन्न नहीं होता, उसकी मृत्यु का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता। मृत्यु से बचने का बस यही एक तरीका है जो हमें मात्र वेद सिखाता है कि दोबारा जन्म लेने से बचें। जन्म से बचने के लिये 'वैदिक धर्म' की शरण में जाना पड़ेगा। वैदिक धर्म क्या है? उसके नियम और सिद्धान्त क्या हैं? कब से है? उसे क्यों जानें? क्यों मानें? कैसे मानें? ऐसे अनेक प्रश्न हो सकते हैं, अतः वैदिक धर्म के बारे में चर्चा प्रारम्भ करने से पूर्व हम कुछ चर्चा आपस में भी कर

लें तो बेहतर होगा।

हम मनुष्य हैं और मनुष्य उसे कहते हैं जो सोचता-समझता है और अंत में जो सत्य है उसे स्वीकार करता है। वास्तव में झूठ बोलने से हम सबको डर लगता ही है। क्योंकि हमारे भीतर सदा रहने वाला परमपिता परमात्मा हमें अच्छे-बुरे कर्म करने के समय (शंका, भय और लज्जा के माध्यम से) चेताता रहता है, परन्तु हम हैं कि उसकी कभी सुनते हैं और कभी सुने को अनसुना कर देते हैं। और यह भी सत्य है कि प्रायः लोग सत्य को स्वीकारने या बोलने से भी डरते हैं। भला सत्य बोलने से कोई डरता है? ये डर ही है जो हमें अनेक प्रकार की बुराइयों से बचाता है और अच्छाई की ओर अग्रसर करता है।

सब जीवों में देखा गया है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त एक प्रकार का डर सताये रहता है—जिसको दार्शनिक भाषा में 'अभिनिवेश' अर्थात् 'मृत्यु का भय' कहते हैं, अभिनिवेश के कारण प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे की अनेक प्रकार की शक्तियों से डरता है।

वैदिक धर्म हमें सब प्रकार के भय और विपत्तियों से पार लगाता है। वैदिक धर्म वेद को ही शत-प्रतिशत ईश्वरीय वाणी मानता और स्वीकार करता है।

**वेद का आगमन/अवतरण:** वास्तव में वेद (ईश्वरीय ज्ञान) का कभी आगमन या गमन या अवतरण नहीं होता। वेद सदा से है और सदा एकरस रहता है। उसका कदापि क्षय नहीं होता। प्रकृति से सृष्टि रचना

के पश्चात् परमपिता परमात्मा सर्वप्रथम सब प्रकार के जीव-जंतुओं को उत्पन्न करता है और अन्त में सबकी उत्पत्ति के बाद, मनुष्यों की उत्पत्ति करता है और उसी के साथ-साथ उनके कल्याण और अपवर्ग हेतु, पूर्व कल्प की भाँति, चार आदि ऋषियों द्वारा, 'वेद' प्रदान करता है। ईश्वरीय ज्ञान को ही 'वेद' कहते हैं। वेद का शाब्दिक अर्थ होता है–ज्ञान। ईश्वरीय ज्ञान की चार पुस्तकें हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

[*आधुनिक विद्वानों तथा चिन्तकों का ऐसा मानना है कि ईश्वरीय ज्ञान (वेद) सदा से एकरस है और आकाश में सर्वत्र बना रहता है इसलिये उस ज्ञान में कभी कोई मिलावट नहीं होती, एकरस (अपरिवर्तित) रहता है। जब-जब प्रकृति से सृष्टि की रचना होती है तब-तब जिन-जिन आदि ऋषियों ने पुरुषार्थ किया, उन-उन आदि ऋषियों ने ईश्वरीय ज्ञान (वेद) को अपने श्रोत्रों द्वारा ग्रहण किया और उस प्राप्त ज्ञान को शब्दों द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अग्रसर करते रहे। वेदों को इसलिए "श्रुति" भी कहते हैं। अतः ऋग्वेद का आदि ऋषि अग्नि, यजुर्वेद का आदि ऋषि वायु, सामवेद का आदि ऋषि आदित्य और अथर्ववेद का आदि ऋषि अंगिरा के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। वेदों को "श्रुति" इसलिये भी कहते हैं; क्योंकि यह वेद-ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा सुनते-सुनाते अग्रसर हुआ है और जब प्रिंटिंग सुविधा आई तो पुस्तकों द्वारा वर्तमान में सबको प्राप्त है। ईश्वरीय ज्ञान को हिन्दू और सिख सम्प्रदाय के अनुयायी 'आकाशवाणी' और

'अनहदनाद' आदि नामों से भी जानते/मानते हैं।

मनुष्य शरीर में कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (ज्ञान प्राप्त के साधन) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (कर्म करने के साधन) तथा एक मन (सब इन्द्रियों का संचालक होता है तथा सब इन्द्रियों का नियन्त्रण करता है अतः मन को इन्द्रियों का राजा भी कहते हैं), जिसके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। ईश्वरीय ज्ञान (वेद) भी उन आदि ऋषियों को इन इन्द्रियों द्वारा ही मिलता है। अतः इनमें से कौन सी ऐसी इन्द्रिय है जो ईश्वरीय ज्ञान को ग्रहण कर सकती है? नेत्र (दर्शन), नासिका (गंध), त्वचा (स्पर्श), जिह्वा (स्वाद) और कर्ण (श्रवण)। इनमें से प्रथम चार इन्द्रियाँ भौतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं और क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान (वेद) अभौतिक वस्तु है, उसे मात्र अभौतिक इन्द्रिय (कर्ण) को ही वेद–ज्ञान प्राप्त होता है, जो अन्त में मन में रहता है। मन उस ज्ञान को शब्दों में परिवर्तित करके पुस्तक के रूप में सुरक्षित रखता है। सृष्टि रचना के बाद, जब मनुष्य की उत्पत्ति हुई तब ईश्वर की असीम कृपा से तथा उन आदि ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा) के अथक प्रयास और पुरुषार्थ से, आकाश में स्थित उस वेद–ज्ञान को श्रवण किया। इस प्रकार से वेद ज्ञान शब्दबद्ध होकर हमारे समक्ष पुस्तकों के माध्यम से उपलब्ध है।

आगे सृष्टि में जैसे–जैसे, जिन–जिन ऋषियों ने वेद के जिस–जिस मन्त्र को सुना, समझा, उसका साक्षात्कार

किया। दूसरों को समझाया, उन-उन ऋषियों का नाम उस-उस मन्त्र के साथ-साथ जोड़ दिया गया। आप वेद मन्त्र-संहिता में प्रत्येक मन्त्र के अन्त में एक अलग ऋषि का नाम लिखा पाएँगे अतः यहाँ समझने की बात है कि चारों वेदों के ऋषि अलग-अलग चार हैं और प्रत्येक मन्त्र का ऋषि अलग होता है।

**ऋग्वेद के विषय हैं:** ज्ञान और विज्ञान काण्ड।

**यजुर्वेद के विषय हैं:** कर्म काण्ड।

**सामवेद के विषय हैं:** ईश्वरोपासना काण्ड।

**अथर्ववेद के विषय हैं:** विज्ञान और चिकित्सा काण्ड।

**'वेद'** मनुष्यमात्र के जीवन का संविधान है; क्योंकि वेद ईश्वरकृत हैं अतः सर्वदा एकरस रहता है। उसमें कभी भी कोई त्रुटि या परिवर्तन अथवा मिलावट नहीं हो सकती है अतः वेद को **'अन्तिम प्रमाण'** भी कहते हैं।

**धर्म का अर्थः** किसी भी वस्तु के निजी गुण, कर्म और स्वभाव को उस वस्तु का 'धर्म' कहते हैं। उदाहरण के तौर पर जैसे अग्नि के कारण गर्मी का अहसास होता है—यह अग्नि का गुण है, अग्नि के सम्पर्क से अनेक वस्तुएँ जल जाती हैं—यह **जलना/जलाना अग्नि का कर्म** है और अग्नि के कारण प्रकाश होना—यह प्रकाश उसका यह गुण है और अग्नि के कारण गर्मी उत्पन्न होती है—गर्मी का होना—यह उसका स्वभाव है।

**धर्म की आवश्यकताः** हम मनुष्य हैं, इसीलिये

हमें धर्म की आवश्यकता पड़ती है, पशुओं को नहीं; क्योंकि पशुओं को जन्मजात ज्ञान होता है। मनुष्य को संसार में कैसे रहना चाहिये, दूसरों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिये आदि अनेक जानकारियाँ वेद द्वारा ही प्राप्त होती हैं। मनुष्य मात्र के कल्याण और जन्म-मरण के अनादि चक्र से बचने के लिये वेदाध्ययन बहुत आवश्यक है। हम संसार में सुखी रहें इसका पूरा ज्ञान हमें वेद सिखाते हैं। एक मनुष्य ही ऐसा निराला प्राणी है जिसे सब-कुछ सीखना और सिखाना पड़ता है। ईश्वर ने मात्र मनुष्यों को ही कहा है कि 'मनुष्य बन' और किसी को नहीं; क्योंकि मनुष्य ही सबसे अधिक गलतियाँ करता रहता है। वेद संसार का संविधान है अतः वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों (श्रेष्ठजनों) का परम् धर्म है। वेदानुकूल व्यवहार करना ही मनुष्यता कहलाती है।

लेखक: **मदन रहेजा**

501 'आशियाना'

(रंजना को-ऑपरेटिव हाउसिंग सोसाइटी लिमिटेड),

418/A, अहिंसा मार्ग (14th 'A' road),

खार (प०) मुम्बई-400052 (भारत)

चलभाष: +919820364787

Email: madanraheja@gmail.com

Email: madanraheja@rahejas.org

Website: http://vedicdharma.blogspot.com

# अथ वैदिक धर्म
# Guide

**1. वैदिक धर्म :** वैदिक धर्म संसार के सब मत-मतान्तरों, पन्थ आदि सम्प्रदायों से अधिक प्राचीन है। सृष्टि की रचना को 1960853109 वर्ष हो चुके हैं। संसार में वैदिक धर्म के अतिरिक्त जितने भी मत, मजहब, पन्थ, सम्प्रदाय, गुट एवं तथाकथित धर्म बने हैं, वे सब किसी न किसी पीर, पैग़म्बर, गुरु, सन्त, महात्मा, बाबा आदि के बनाए एवं चलाए हुए हैं तथा उनमें समयानुसार फेर-बदल की आवश्यकता पड़ती है। वैदिक धर्म ईश्वरीय ज्ञान होने से अनादि, अपौरुषेय और सब काल के लिये एकरस रहता है। वैदिक धर्म के सब सिद्धान्त सृष्टि नियमों के अनुकूल होने से विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरते हैं जबकि अन्य मत-मतान्तरों आदि की अधिकतर मान्यताएँ इसके विपरीत होती हैं। वेद ईश्वरीय ज्ञान के पूर्ण भण्डार हैं अतः सब मनुष्यों (स्त्री और पुरुष) को 'वेद' को पढ़ने-पढ़ाने तथा सुनने-सुनाने का समान अधिकार है, वह चाहे किसी भी देश, वर्ण, आश्रम का ही क्यों न हो। वैदिक धर्म मनुष्य मात्र के लिए समान होता है।

**2. वैदिक त्रैतवाद सिद्धान्तः** वैदिक धर्म के

अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड में मात्र दो ही वस्तुएँ विद्यमान होती हैं–एक जड़ और दूसरी चेतन। मूल जड़ वस्तु को हम 'प्रकृति' कहते हैं और चेतन वस्तु के दो भाग होते हैं–एक सर्वव्यापी चेतन वस्तु, जिसको हम 'ईश्वर' के नाम से जानते हैं और दूसरी वस्तु का नाम है–'जीव', जिसको सामान्य रूप से 'आत्मा' या 'जीवात्मा' भी कहते हैं। ईश्वर एक होता है और आत्माएँ एक नहीं, अपितु अनेक होती हैं। ये तीनों वस्तुएँ स्वभाव से नित्य होती हैं अर्थात् इनको कोई उत्पन्न नहीं करता स्वयम्भू होती हैं। इन तीनों की मान्यता के सिद्धान्त को वैदिक धर्म में 'त्रैतवाद सिद्धान्त' कहते हैं। 'वैदिक धर्म' त्रैतवाद के सिद्धान्त को मानता है अर्थात् तीन सत्ताओं (ईश्वर, जीव और प्रकृति) को नित्य मानता है। नित्य वस्तु अर्थात् जो स्वयम्भू हैं, सदा से हैं, कभी किसी से उत्पन्न नहीं हुई हैं इसलिए सदा बनी रहती हैं, कभी समाप्त नहीं होती हैं। इन तीन नित्य वस्तुओं के अस्तित्व के बिना इस संसार में कुछ भी सम्भव नहीं हो सकता। ये तीनों वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं और इनका आपस में जुड़ना अथवा एक-दूसरे में मिल जाना कदापि नहीं होता है। तीनों वस्तुएँ–ईश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन वेद के ऋग्वेद के इन मन्त्रों में देखिये–**ऋ.1/164/20, 1/164/44, 10/5/7**। इन मन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है कि ईश्वर और जीव दोनों स्वभाव से चेतन होने से ज्ञान-सहित हैं और निराकार हैं तथा तीसरी वस्तु

'प्रकृति' स्वभाव से जड़ होने के कारण ज्ञान-रहित है। अब प्रस्तुत है तीनों अनादि नित्य वस्तुओं का संक्षिप्त परिचयः

**3. ईश्वरः** ईश्वर स्वभाव से एक अद्वितीय, स्वतन्त्र, स्वयम्भू चेतन सत्ता है जिसका वेद तथा अन्य शास्त्रों के अनुसार सर्वप्रिय निज नाम 'ओ३म्' घोषित किया गया है। वास्तव में ईश्वर के अनेकानेक गुण, कर्म और स्वभाव के कारण अनेक नाम हैं। वैदिक धर्म के अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, अजर, अमर, अभय, नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, पवित्र, सृष्टिकर्त्ता (सृष्टि को उत्पन्न करने वाला), सृष्टिधर्त्ता (सृष्टि की देख-भाल करने वाला), सृष्टिहर्त्ता (निर्धारित समय पर प्रलय), वेद-प्रदाता, कर्म-फलदाता एवं जन्म, जीवन और मृत्युहारा है अतः उसी की उपासना करनी योग्य है। ईश्वर के स्थान पर किसी व्यक्ति-विशेष या चित्र आदि की उपासना नहीं करनी चाहिये। ऐसा करना वैदिक धर्म के विरुद्ध है। चेतन के स्थान पर जड़ पूजा करना व्यर्थ और अज्ञानता का प्रतीक है। ईश्वर सदा-सर्वदा, सबको, सर्वत्र प्राप्त/उपलब्ध है।

**4. जीवः** जीव भी ईश्वर की तरह एक चेतन सत्ता है। ईश्वर मात्र एक अद्वितीय है, परन्तु जीव अनेक अर्थात् संख्या में असंख्य हैं। जीव को ही अलग-अलग

परिस्थितियों में हम 'आत्मा' और 'जीवात्मा' भी कहते हैं। यह स्वभाव से एकदेशी, चेतन और अल्पज्ञ (सीमित ज्ञानवान) होता है। शरीर धारण करने से जीव का नाम 'जीव' या 'जीवात्मा' होता है। जब वह अपने निज स्वभाव में स्थित होता है या मुक्त अवस्था में होता है तब उसका नाम 'आत्मा' होता है। वास्तव में तीनों एक ही सत्ता के पर्यायवाची नाम हैं। आत्मा एकदेशी होने से अल्पज्ञ और अल्पज्ञ होने से मनुष्य के अधिकतर कार्यों में त्रुटियाँ रह ही जाती हैं जिनका ख़ामियाज़ा उसे भुगतना ही पड़ता है। ईश्वराज्ञा का पालन करना ही मनुष्य मात्र का 'धर्म' कहलाता है। सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में जीवों की संख्या सीमित है, परन्तु अल्पज्ञ जीव के लिये जीवों की संख्या असंख्य है। जीवों की संख्या सदा एक सी अपरिवर्तित बनी रहती है अर्थात् उसमें वृद्धि या कमी नहीं होती; क्योंकि आत्मा नित्य है अर्थात् आत्मा अजन्मा, अजर, अमर, नित्य और पवित्र है। इसके अनेक वेद-प्रमाण हैं: **(अथर्व० 10/8/26)**, **(ऋ. 6/9/4, 6/9/5)**। आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। आत्मा लिंग-रहित होता है। जहाँ-जहाँ आत्मा होता या होती है, वहाँ-वहाँ सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान जैसे लक्षण, निशानियाँ, लिङ्ग, चिह्न पाये जाते हैं। अपने ही शुभाशुभ कर्मों के कारण जीव जन्म-मृत्यु के अनादि चक्र में अनेक योनियों में आता-जाता रहता है और मनुष्य योनि में यदि वह वेदानुकूल आचरण

करता है तो परान्तकाल तक जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। यहाँ एक बात स्मरण करने योग्य है कि बिना शरीर के 'आत्मा' कोई भी कार्य नहीं कर सकता अर्थात् शरीर–रूपी साधन से ही वह क्रिया कर सकता है।

**5. प्रकृतिः** सत्व+रज+तमस=प्रकृति। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था (समान अवस्था) को–जिस से सृष्टि का निर्माण होता है, उन तीन मूल जड़ पदार्थों को मिलाकर 'प्रकृति' कहते हैं। प्रकृति भी स्वभाव से ईश्वर और जीव की तरह अनादि तत्त्व है जो स्वभाव से जड़ (ज्ञान–रहित) पदार्थ होता है, इसमें अपने–आपसे कोई भी क्रिया (हरकत या हलचल) नहीं होती है। 'प्रकृति' जिन तीन गुणों के मिश्रण का नाम है वह जड़ पदार्थों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से किसी भी भौतिक यन्त्र या तन्त्र से नहीं दिखाई देती, परन्तु समाध्यावस्था में योगीजनों को उसकी अनुभूति (दर्शन) होती है। 'प्रकृति' जड़ पदार्थ होने से (जैसे पहले भी लिख आये हैं) अपने–आपसे कुछ नहीं कर सकती। ईश्वर की असीम प्रेरणा से मूल प्रकृति में एक प्रकार की हलचल (कम्पन्न सा होता है जिसको अंग्रेज़ी में Big Bang कहते हैं) होती है, उस मूल प्रकृति में धीरे–धीरे विषमता (बदलाव) आने लगती है तथा उस परिवर्तन से आगे चलकर क्रमशः प्रकृति से सृष्टि रचना का क्रम प्रारम्भ होता है।

**नोटः ईश्वर, जीव और प्रकृति में से यदि**

**एक को भी निकाल दें तो सृष्टि बन नहीं सकती। तीनों** अनादि **वस्तुओं का एक साथ होना** अत्यन्तावश्यक **है अन्यथा कोई कार्य संभव नहीं। वैदिक धर्म** अद्वैतवाद **या** द्वैतवाद **के** सिद्धान्तों **को नहीं** मानता।

**6. सृष्टि रचना क्रमः** सर्वप्रथम कुछ नहीं था। ईश्वर, जीव और प्रकृति सदा से वर्तमान थे। सब दिशाओं में अंधकार छाया हुआ था। ईश्वर की प्रेरणा से, पूर्व कल्प की तरह, प्रकृति में बड़ी हलचल (क्षोभ/विस्फोट अर्थात् Big Bang) की स्थिति उत्पन्न होती है और उसके बाद क्रम से~1) प्रकृति से बनने वाली सर्वप्रथम वस्तु महत्तत्त्व (बुद्धि)~फिर अहंकार (सात्त्विक+राजसिक+तामसिक)। (सात्त्विक+ राजसिक अहंकार) ~ (11), इन्द्रियाँ = 1, (भीतरी) मन+(बाहरी), 5 ज्ञानेन्द्रियाँ+5 कर्मेन्द्रियाँ, (राजसिक+ तामसिक अहंकार)~(5) तन्मात्राएँ, (गन्ध+रस+रूप+ स्पर्श+शब्द)~(5) महाभूत, (पृथ्वी+जल+अग्नि+वायु+ आकाश)=23+प्रकृति+23 विकार+1 पुरुष=25।

'पुरुष' दो प्रकार के होते हैं–ईश्वर और जीव (सांख्य- दर्शन (1/26)

**नोटः प्रलय का क्रम, रचना क्रम के ठीक विपरीत होता है अर्थात् जो वस्तु सृष्टि के अन्त में उत्पन्न होती है, वह प्रलय के समय क्रम से सर्वप्रथम अपने सूक्ष्म तत्त्व में परिवर्तित होते-होते**

**अन्त में प्रकृति के सत्त्व, रज और तमस में लीन हो जाती है, समा जाती है।**

**7. मनुष्य रचनाः** परमपिता परमात्मा अनादि काल से, हर कल्प में, पूर्व काल की भाँति, सब जीवों के भोग, कल्याण एवं तीनों अनादि नित्य तत्त्वों की सार्थकता हेतु, प्रकृति तत्त्व से सृष्टि की रचना करता है।

[याद रहे कि **प्रकृति** मूल है और सृष्टि उस मूल की विकृति को कहते हैं। प्रायः लोग प्रकृति और सृष्टि के भेद को समझ नहीं पाते। दोनों शब्दों में उलझ जाते हैं।]

ईश्वर के सान्निधान से प्रकृति में विषमता आती है और स्थूल सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ होता है। जड़ता के कारण सृष्टि अपने आपसे कुछ नहीं करती। चेतन की प्रेरणा से ही गतिशील होती है। सृष्टि रचना के क्रम में वन, वनस्पतियों की रचना उपरान्त जलीय, तटीय तथा आकाशीय सभी व-जन्तुओं तथा पशु-पक्षियों इत्यादि की उत्पत्ति के बाद अन्त में सर्वश्रेष्ठ प्राणी 'मनुष्य' की उत्पत्ति होती है। सृष्टि परिवर्तनशील है अतः उसमें लगातार परिवर्तन होता रहता है तथा प्रलयावस्था में वह अपने मूल कारण प्रकृति में लीन हो जाती है। प्रलय के समय सब आत्माएँ सुषुप्ति अवस्था में रहती हैं। सृष्टि रचना और प्रलय का प्रवाह अनादि काल से जारी है और भविष्य में भी इसी प्रकार चलता रहेगा। **(ऋ. 1/164/38), (अथर्व० 10/8/25 एवं 13/1/6)।**

**8. वेदः** ईश्वरीय ज्ञान-विज्ञान को 'वेद' कहते हैं।

'वेद का शाब्दिक अर्थ होता है—ज्ञान। वेद तीन विद्याओं पर आधारित है—ज्ञान, कर्म और उपासना। परमपिता परमात्मा, सृष्टि के आदि में मनुष्यों की उत्पत्ति के साथ-साथ उनके कल्याण व सद्गति हेतु उनकी सर्वाधिक ग्रहण करने की क्षमतानुसार, अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों द्वारा क्रमश: चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद) का ज्ञान उपलब्ध कराता है। वेद मनुष्य मात्र का 'धर्मग्रन्थ' और उसकी जीवन शैली का 'संविधान' है। वैदिक धर्म की मूल आधार शिला चार वेद हैं जिनमें तृण से लेकर ब्रह्माण्ड तक का समस्त ज्ञान-विज्ञान मूल रूप में विद्यमान है। वेद के चार भाग हैं—ऋग्वेद (ज्ञान-काण्ड), यजुर्वेद (कर्म-काण्ड), सामवेद (उपासना-काण्ड) और अथर्ववेद (ज्ञान-विज्ञान-काण्ड)। चारों वेदों में कुल मन्त्र संख्या 20,416 है जिसमें ऋग्वेद में 10,589, यजुर्वेद में 1,975, सामवेद में 1,875 और अथर्ववेद में 5,977 मन्त्र हैं। ईश्वरीय ज्ञान होने से 'वेद' मन्त्रों में कभी भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता अर्थात् उनमें कभी वृद्धि, कमी या क्षति नहीं होती है इसलिए 'वेद स्वत: प्रमाण है।'

**9. ऋषिग्रन्थ:** वेदों की गूढ़ बातों को समझाने के लिये प्राचीन ऋषियों ने उन्हीं वेद विषयों को समझाने हेतु कुछ ग्रन्थों का निर्माण किया जिनको 'आर्ष ग्रन्थ' कहते हैं (वेदानुकूल होने से 'आर्ष' कहते हैं)। आर्ष ग्रन्थों द्वारा

वेदों का विस्तृत रूप से परिज्ञान होता है। वेदों को अच्छी तरह से समझाने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनको 'ऋषिग्रन्थ' कहते हैं, इनमें वेदों का ही विस्तृत परिचय (व्याख्या) है। इन ग्रन्थों के नाम हैं–उपवेद, ब्राह्मण, दर्शन शास्त्र, वेदाङ्ग, उपनिषद्, आरण्यक आदि।

**चार उपवेदः** आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद।

**चार ब्राह्मणः** ऐतरेय, शतपथ, तांड्य जिसे साम भी कहते हैं और गोपथ। छः दर्शन शास्त्रः न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदांत या पूर्व मामांसा और मीमांसा या उत्तर मीमांसा।

**छः वेदाङ्गः** शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और कल्प।

**ग्यारह उपनिषद्ः** ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, गाण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर।

कालान्तर में ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, अहंकार, हठ, दुराग्रह, स्वार्थ और अज्ञानता के कारण इन ऋषिग्रन्थों में जाने–अनजाने से उनकी Proof reading ठीक प्रकार से न होने के कारण सम्भव है कि उनमें कहीं न कहीं छोटी–मोटी त्रुटियाँ रह जाती होंगी, परन्तु वेद ज्ञान सदा एकरस रहता है; क्योंकि पूर्व की भाँति वर्तमान में भी ऐसे अनेक पण्डितगण विद्यमान हैं जो वेदों की रक्षा के

लिये विविध ढंग से पठन-पाठन करते हैं अतः वेद मन्त्रों में कभी कोई मिश्रण या परिवर्तन करना असम्भव है। चारों वेदों में कुल मन्त्रों की संख्या 20, 416 है और इन मन्त्रों में कुल अक्षर 8, 64, 000 हैं। अतः गर्व से कहा जा सकता है कि ईश्वर प्रदत्त ज्ञान-'वेद' अनादि काल से अखण्ड, अपरिवर्तित तथा एकरस रहता है और आज भी है। ऋषिग्रन्थ वेद-प्रमाणों से पूर्ण हैं। वेद पर आधारित होते हैं इसलिये उनको 'परतः प्रमाण' कहते हैं परन्तु वेदानुकूल होने से ऋषि ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में लाया जा सकता है। इसीलिए 'वेदों' को 'अन्तिम प्रमाण' कहते हैं।

**10. ईश्वर का निज नामः** ईश्वर के अनेक गुण-कर्म-स्वभाव हैं अतः उसके गौणिक, कार्मिक, स्वाभाविक एवं अलंकारिक नाम भी असंख्य हैं, परन्तु वेद तथा आर्ष ग्रन्थों की मान्यतानुसार परमात्मा, परम पिता परमात्मा का सर्वप्रिय निज नाम 'ओ३म्' बताया गया है। 'ओ३म्' में ईश्वर के असंख्य नामों का समावेश है। 'ओ३म्' शब्द तीन अक्षरों के योग से बनता है, अ+उ+म्। अ और उ की सन्धि करने पर ओ तथा उसमें म् जोड़ने से 'ओ३म्' शब्द बनता है। ओ३म् की गूँज ब्रह्माण्ड में सर्वदा गूँजती रहती है। वेदानुकूल आत्मा का निज नाम 'क्रतु' (कर्मशील) बताया गया है।

**11. सृष्टि नियमः** सर्वज्ञ ईश्वर के बनाए सृष्टि के सब नियम अटल एवं अपरिवर्तनशील होते हैं जिनको

कोई भी, कभी भी, किसी भी परिस्थिति में बदल नहीं सकता यहाँ तक कि स्वयं ईश्वर भी उनको बदल या उनमें संशोधन नहीं कर सकता क्योंकि उनको ईश्वर ने बनाये हैं। अत: उसके कार्य में कदापि त्रुटि नहीं होती है।

**12. अवतारवाद:** वैदिक धर्म अवतारवाद को नहीं मानता। अवतरण का अर्थ होता है–'ऊपर से नीचे उतरना।' 'अवतार' कहते हैं–'जो ऊपर से नीचे उतरे।' ईश्वर सर्वव्यापक होने से सदैव, सर्वत्र विद्यमान होता है अत: वह कभी भी, कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में, किसी भी रूप में अवतार नहीं लेता अर्थात् किसी भी योनि में शरीर धारण कर ऊपर-नीचे, यहाँ-वहाँ आता-जाता नहीं है। ईश्वर का अवतरण या अवतार नहीं होता/हो सकता क्योंकि **(ऋ. 4/1/1, 8/72/3, 6/18/12) (यजु. 32/2, 40/8)** वह परमात्मा अकाय, निराकार, अदृष्टा और विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक है।

**13. स्वर्ग-नरक:** स्वर्ग, नरक, वैकुण्ठ आदि कोई स्थान विशेष में नहीं होते। इसी दुनिया में होते हैं। जहाँ सुख होता है उस परिस्थिति को 'स्वर्ग' कहते हैं और इस के विपरीत जहाँ दु:ख होते हैं उस हालात को 'नरक' कहते हैं। संक्षेप में सुख-विशेष का नाम 'स्वर्ग' है जिसमें मनुष्य पूर्णरूपेण स्वस्थावस्था में जीवन के सुखों को भोगता है तथा इसके ठीक विपरीत दु:ख-विशेष का नाम 'नरक' है। स्वर्ग (जन्नत) या नरक (दोज़ख़) और कहीं

नहीं, इसी संसार में होते हैं। मनुष्य अपने जीवन में अच्छे कर्म करता है तो उसे स्वर्ग मिलता है और बुरा कर्म करने वाले को नरक ही प्राप्त होता है। सत्य कथन है–अच्छे कर्मों का अच्छा फल (स्वर्ग) और बुरे कर्मों का फल बुरा (नरक) ही होता है।

**14. 33 कोटि देवी-देवता:** देवता अर्थात् दिव्य गुणों वाला। जिस में दिव्य गुण होते हैं उनको देवता कहते हैं। साधारण भाषा में "जो देता है वह देवता।" देवता पुलिंग शब्द है और उसका स्त्रीलिंग शब्द है देवी। देवी–देवता जड़ भी हो सकते हैं और चेतन भी। स्वर्ग के कोई अलग से देवी–देवता नहीं होते। माता–पिता, गुरु, वैदिक विद्वान् और पति/पत्नी एक–दूसरे के लिये मूर्तिमान चेतन देवी–देवता होते हैं। जड़ देवता 33 प्रकार/कोटि/स्तर/श्रेणी के होते हैं। तैंतीस कोटि देवी-देवता (कोटि का अर्थ होता है–स्तर, प्रकार, श्रेणी या करोड़)। 8 वसु (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और तारे), 11 रुद्र (दस प्राण=प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवाँ आत्मा), 12 आदित्य अर्थात् वर्ष के बारह मास, 1 इन्द्र (बिजली) और 1 प्रजापति (यज्ञ)। ये ही तैंतीस कोटि देवता होते हैं। देवों का देव अर्थात् सबसे बड़ा देव 'महादेव' एक परमेश्वर है। यहाँ कोटि का अर्थ 'करोड़ संख्या' नहीं, अपितु 'श्रेणी' है। अज्ञानता के कारण अनेक लोगों में ऐसा भ्रम फैला हुआ

है कि देवी-देवता 33 करोड़ होते हैं। यह एक ग़लत धारण बनी हुई है। उसको ठीक करना चाहिये।

**15. भूत-प्रेतः** भूत, प्रेत, राक्षस, डायन आदि नाम के डरवाने जीव, वास्तव में कुछ भी नहीं होते और न कभी हो सकते हैं; ये सब कुछ धूर्त्त, फ़रेबी, कमज़ोर मानसिक स्थिति वाले मनुष्यों द्वारा बनाई हुई काल्पनिक तस्वीरें/वस्तुएँ हैं। यदि इनका अस्तित्व होता तो सबको, सब स्थान, दिन-रात में दिखाई देते। स्मरण रहे कि 'ईश्वर, जीव और प्रकृति' के अलावा कोई चौथी वस्तु नहीं होती। ये सब मनुष्य की अपनी भ्रष्ट बुद्धि के विकार होते हैं जो सुनी-सुनाई बातों पर अज्ञानता के कारण विश्वास करते हैं और फिर वैसी कल्पना करते हैं। दरिद्र मस्तिष्क के लोगों को रात्रि में ऐसे भयानक दृश्य दिखाई देते हैं जो सामान्य लोगों को नहीं दिखाई देते! (नोटः वास्तव में रात्रि के घनघोर अँधेरे में, प्रकाश के अभाव में, किसी भी सामान्य व्यक्ति को कुछ दिखाई नहीं देता। और जिसको कुछ दिखाई देता है तो समझना चाहिए कि कुछ तो गड़बड़ है।) जादू-वादू, टोना-टोटका, झाड़-फूँक, निचली-ऊपरी शक्तियाँ आदि इत्यादि कुछ नहीं होते। बिना शरीर के आत्मा कुछ नहीं कर सकता। एक समय में आत्मा एक ही शरीर में निवास करती है, अनेक स्थानों में नहीं। मृत्यु के पश्चात् दिवंगतात्मा भटकती नहीं है, अपितु वह अपने किये शुभाशुभ कर्मानुसार परमात्मा की न्याय-व्यवस्था में एक नया शरीर

धारण करती है। (ईश्वर की कृपा से मात्र गर्भावस्था में माता के गर्भ में एक या उससे अधिक शरीरों का निर्माण होता है और उन शरीरों में आत्मा वसती हैं–( अथर्ववेद: **10/8/28, ( ऋग्वेद: 6/47/18 )**। जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता उसकी सोच नकारतात्मक हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप ऐसी बेतुकी बातों पर विश्वास करता है। मनुष्य के भाग्य (कर्म-फल) को कोई बदल नहीं सकता! मस्तिष्क रेखा, हस्त रेखा, पाँव रेखा या ज्योतिषियों के नुसखों के भरोसे किसी का भाग्य नहीं बदला जा सकता है। मनुष्य के अपने कर्मों से ही उसका भाग्य बनता या बिगड़ता है।

**16. भगवान्:** ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शिव, शंकर, राम, कृष्ण आदि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के महापुरुष हो चुके हैं, ये ईश्वर या ईश्वर के अवतार नहीं हैं।

**“ऐश्वर्यस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।**
**ज्ञानवैराग्ययो-श्चैव षण्णां भग इतीरणा।”**

**( विष्णुपुराण 6/5/74 )**

अर्थात् सम्पूर्ण 1. ऐश्वर्य, 2. वीर्य, 3. यश, 4. श्री, 5. ज्ञान और 6. वैराग्य, इन छः गुणों का नाम ‘भग’ है। जिन-जिन महापुरुषों में उपरोक्त छः गुण विद्यमान होते हैं उनको ‘भगवान’ कहते हैं। शुभ गुण-कर्म-स्वभाव के कारण ही महापुरुषों को ‘भगवान्’ की उपाधि से सम्बोधित किया जाता है। ‘भग’ अर्थात् भाग्य और

'वान' अर्थात् वाला अतः भगवान् का अर्थ हुआ भाग्यवाला। कभी-कभी हम प्रेम से ईश्वर को भी भगवान् कहते हैं। यहाँ एक बात अवश्य समझनी चाहिए कि सांसारिक भगवान् जन्म लेते हैं, दिखाई देते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर ईश्वर स्वभाव से ही एक अमर, निराकारी, सर्वव्यापी और अविनाशी सत्ता का नाम है। वह कभी दिखाई नहीं देता।

**17. कर्म-फल सिद्धान्तः** कर्म-फल के कुछ अटल नियम या सिद्धान्त होते हैं: 1. कर्त्ता को ही किये कर्म का फल मिलता है। 2. जैसा कर्म होता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। 3. जितनी मात्रा में कर्म होगा, उतनी ही मात्रा में फल मिलता है, न कम और न अधिक। 4. बिना कारण और कर्त्ता के कोई कर्म नहीं हो सकता है। 5. मनुष्य स्वतन्त्रता से कर्म तो कर सकता है, परन्तु उसका फल उसे कब, कहाँ, कैसे मिलता है उसका निर्णय मात्र ईश्वराधीन सुरक्षित रहता है। उपरोक्त के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को, उसके किये प्रत्येक शुभाशुभ कर्म का फल/दण्ड अवश्यमेव भुगतना पड़ता है। जिससे कोई बच नहीं सकता और न कोई बचा सकता है। कर्मफल कब, कहाँ, कैसे मिलता है इसे मात्र ईश्वर के कोई जान नहीं सकता। योग-दर्शन के सिद्धान्तानुसार सब मनुष्यों को किये हुए कर्मों का फल ईश्वर द्वारा 'जाति-आयु-भोग' द्वारा प्राप्त होता है, साधारण/सामान्य भाषा में इस कर्म-फल को भाग्य, नसीब तक़दीर Destiny भी कहते हैं। ईश्वर भाग्यविधाता नहीं,

अपितु स्वयं मनुष्य ही अपने भाग्य का विधाता होता है। जो मनुष्य जितना और जैसा कर्म करता है, उसको उतना और वैसा ही फल प्राप्त होता है अर्थात् शुभ कर्मों का फल शुभ (सुख के रूप में) और उसके विपरीत अशुभ कर्मों का फल अशुभ (दुःख के रूप में) ही मिलता है। कोई कितने भी उपाय, प्रयत्न, पूजा, पाठ, प्रार्थना इत्यादि करे, परन्तु वह ईश्वरीय कर्मफल न्याय व्यवस्था से कभी छूट नहीं सकता। शुभ कर्मों को 'पुण्य' और अशुभ कर्मों को 'पाप' कहते हैं। पुण्य कर्मों के फल 'सुख' और पाप कर्मों के दण्ड 'दुःख' के रूप में प्राप्त होता है। मनुष्य के भाग्य (कर्म-फल) को कोई बदल नहीं सकता! मस्तिष्क रेखा, हस्त रेखा, पाँव रेखा या ज्योतिषियों के नुसखों के भरोसे किसी का भाग्य नहीं बदला जा सकता है! मनुष्य के अपने कर्मों से ही उसका भाग्य बनता या बिगड़ता है।

**18. पाप/पुण्य कर्मः** गंगा, यमुना, कावेरी, गोदा-वरी, क्षिप्रा इत्यादि नदियों के जल में डुबकियाँ लगाने या नहाने से पाप नहीं धुलते अथवा नष्ट नहीं होते, मात्र शरीर का मैल धुलता है। ईश्वरीय न्यायव्यस्था अटल एवं सबके लिये समान होती है। परमात्मा किसी की सिफ़ारिश से या परिस्थिति में कर्त्ता के शुभाशुभ कर्मों के फल को कम, अधिक अथवा क्षमा नहीं करता। कर्त्ता को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यमेव भुगतना पड़ता है, उनको भोगे बिना छुटकारा नहीं होता;

क्योंकि कर्म बीज रूप हैं और दुःख-सुख उसके फल रूप होते हैं। ईश्वरीय न्याय व्यवस्था में सब समान हैं—चाहे वह राजा हो या रंक, सन्त हो या फ़कीर, विद्वान हो या मूर्ख, धनवान हो या निर्धन। धर्माचरण अर्थात् अपने जीवन में सद्‌गुणों को धारण करने से व्यक्ति पापकर्मों से बच सकता है और शुभ कर्मों में अग्रसर रहता है। अच्छे, सर्वहितकारी अर्थात् पुण्य (शुभ) कर्मों का फल अच्छा ही होता है।

**19. तीर्थः** हरिद्वार, काशी, मथुरा, वृन्दावन, बद्रीनाथ, केदारनाथ, कैलाशनाथ, प्रयगराज, उज्जैन, नासिक इत्यादि स्थान तीर्थ नहीं हैं। वास्तव में तीर्थ का अर्थ होता है—जिससे मनुष्य संसार रूपी भव सागर से पार हो जाए। वेदादि आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय, यम-नियमादि अष्टांग योग का अभ्यास, सत्संग, सत्कर्म, निष्काम सेवा, धर्मानुसार आचरण इत्यादि ही तीर्थ होते हैं जिससे मनुष्य सब प्रकार के सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाता है और अन्त में वह सद्गति को प्राप्त होता है।

**20. आश्रम-व्यवस्थाः** वैदिक धर्मानुसार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को भी चार भागों में बाँटा गया है जिसे 'आश्रम' कहते हैं। पचीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करना चाहिये, पचीस से पचास वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम, पचास से पचहत्तर की आयु तक वानप्रस्थाश्रम और इस से आगे संन्यासाश्रम में रहकर मनुष्य को अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति करनी चाहिये।

**21. वर्ण-व्यवस्थाः** कर्म के आधार पर मानव समाज को चार भागों में बाँटा गया है जिसे 'वर्ण' कहते हैं। चार प्रकार के वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का धर्म है—'वेद तथा आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना और पढ़ाना एवं अन्य तीन वर्ण के लोगों को धर्म की जानकारी प्रदान करना।' क्षत्रिय का कर्तव्य है—'राष्ट्र की सीमाओं की देखभाल करना तथा देश को विदेशी आक्रमण से सुरक्षित रखना।' वैश्य का काम है—'समाज के सभी वर्गों के लिये जीवनयापन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करना' तथा 'व्यापार में वृद्धि कर देश को समृद्ध बनाना।' शूद्र की परिभाषा है—जो पढ़ाने पर भी विद्या ग्रहण करने में असमर्थ होता है अतः उसके लिये यही कार्य ही बचता है कि वह शेष तीन वर्गों के लोगों की सेवा करके उनके कार्यों में सहायता करे। जन्म और जाति से कोई भी मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता, परन्तु वह अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहाता है। कर्महीन और पथभ्रष्ट होने से एक ब्राह्मण भी शूद्र की कोटि को प्राप्त हो सकता है और उसी प्रकार वेदाध्ययन तथा सत्याचरण से एक शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है। ऊँच, नीच या आर्य, अनार्य का भी यही पैमाना है। जिस व्यक्ति के मन-वचन-कर्म में सत्यता तथा शुद्धता है वह आर्य (श्रेष्ठ) और जिसके मन-वचन-कर्म में असत्यता और अशुद्धता है वह अनार्य (अछूत)

कहाता है।

**22. पुनर्जन्मः** वैदिक धर्म 'पुनर्जन्म' को मानता है **(ऋ. 6/47/18) (अथर्व. 10/8/27, 10/8/28, 11/4/6), (यजु० 4/15)** अर्थात् मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म होता है। यदि पुनर्जन्म न मानेंगे तो सृष्टि रचना का क्या उपयोग? सृष्टि को कौन भोगेगा? मात्र एक जीवन में सब कर्मों के फल भोगे नहीं जा सकते। जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्मों तथा वर्तमान जन्म के फलों को भोगने के लिये जन्म लेना ही पड़ता है। मृत्यु अर्थात् समाप्ति पंचमहाभूतों से बने शरीर की होती है तथा आत्मा चेतन तत्त्व होने से नित्य, अजर, अमर है और किये शुभाशुभ कर्मों के आधार पर ईश्वरीय कर्मफल 'जाति-आयु-भोग' की न्यायव्यवस्थानुसार पुनः शरीर को प्राप्त होता है। पुनर्जन्म कब, कहाँ, कैसे होगा—यह परमात्मा के अतिरिक्त कोई नहीं जानता। ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुसार जब जीवात्मा शरीर धारण करता है तो उसे 'जन्म' तथा जब वह उस शरीर को छोड़ता है तो उसे 'मृत्यु' और जन्म-मृत्यु के मध्य काल को 'जीवन' कहते हैं।

**23. यज्ञः** यज्ञ को वेद तथा सभी आर्ष ग्रन्थों में विश्व का सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।'** इससे तीनों लोकों (पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष और द्यौलोक) का कल्याण होता है। वैदिक धर्मानुसार प्रत्येक सर्वहितकारी/ परोपकारी कर्म/ कार्य

को 'यज्ञ' कहते हैं। यज्ञ के तीन भाग/हिस्से/प्रकार होते हैं-

**1. देवपूजा:** (अग्निहोत्र द्वारा वातावरण की शुद्धि करना),

**2. संगतिकरण:** (मनुष्य मात्र से मित्रता का व्यवहार करना जिससे संसार में प्रेम और शान्ति बनी रहे) और

**3. दान:** (धार्मिक एवं परोपकारी संस्थाओं तथा जरूरतमन्द सुपात्रों की हर सम्भव सहायता करना अर्थात् उनकी योग्य आवश्यकताओं जैसे शिक्षा, धन, वस्त्र, धान्यादि की पूर्ति करना)। विद्या दान सर्वश्रेष्ठ दान होता है।

अग्निहोत्र एक कर्मकाण्ड है–जिसका मुख्य लाभ है–आसपास के वातावण को शुभ–पवित्र बनाना या रखना। यज्ञ कर्म करने से मनुष्य को 'स्वर्ग' अर्थात् मनोवाञ्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। एक सच्चे संन्यासी को यज्ञ (कर्मकाण्ड) करने के बन्धन से मुक्त रखा गया है क्योंकि संन्यासी का लक्ष्य 'स्वर्ग' (सांसारिक सुख)की प्राप्ति नहीं, अपितु 'मोक्ष' प्राप्ति होता है। साधारण भाषा में यज्ञ को ही साधारण भाषा में अग्निहोत्र, हवन, होम आदि नामों से जाना जाता है।

अग्निहोत्र के अनेकानेक लाभ होते हैं तथा दैनिक नियमित अग्निहोत्र (यज्ञ) करने से अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रोगों से छुटकारा

भी मिलता है। 'मन की शान्ति' का सरलतम उपाय है–यज्ञ करना।

**24. याग:** मीमांसा दर्शन के अनुसार यज्ञ कर्म-काण्ड में जो विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिये अलग-अलग नामों से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं उन आहुतियों को 'याग' कहते हैं।

**25. मोक्ष:** सब प्रकार के आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक दु:खों से छूट जाने का नाम 'मोक्ष' या 'मुक्ति' है। स्वतन्त्रता एक प्रकार का सुख है, राहत है, मुक्ति है और उसके विपरीत बन्धन एक प्रकार का दु:ख है, परेशानी है, मुक्ति में बाधा है। बार-बार के जन्म-मरण के बन्धन से छूटने का नाम भी 'मुक्ति' है। मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य है–मोक्ष अर्थात् जन्म-मृत्यु से मुक्ति प्राप्त करना जो मात्र मनुष्य योनि में ही सम्भव है, इसीलिये मनुष्य योनि सर्वश्रेष्ठ योनि मानी जाती है क्योंकि इसी योनि में मनुष्य को कर्म करने की पूर्णरूपेण स्वतंत्रता प्राप्त है। इसी योनि में हम मुक्ति पा सकते है अन्यथा बार-बार के जन्म-मरण के चक्र में चकराते रहेंगे। निर्णय हमारे हाथों में है।

**26. पञ्च-महायज्ञ:** प्रत्येक मनुष्य को पञ्चमहायज्ञ करने चाहिये। (1) **ब्रह्मयज्ञ:** वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना,, सन्ध्योपासना और योगाभ्यास 'ब्रह्मयज्ञ' है। यह प्रात: एवं सायं किया जाता है। (2) **देवयज्ञ:** विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, विद्या की

उन्नति तथा प्रातः सायं अग्निहोत्र करना देवयज्ञ है। (3) **पितृयज्ञ:** जिसमें देव अर्थात विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने पढ़ाने, पितर अर्थात् माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों की सेवा करनी होती है। इसके श्राद्ध और तर्पण दो भेद होते हैं। जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाए उसे श्रद्धा और श्रद्धा से किया गया कर्म श्राद्ध है। एवं जिससे माता-पिता आदि पितर प्रसन्न हों उस कर्म को तर्पण कहते हैं। श्राद्ध तर्पण मृतकों के लिए नहीं, अपितु जीवितों के लिए होता है। (4) **वैश्वदेवयज्ञ:** जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़कर घृत, मिष्टयुक्त अन्न लेकर, चूल्हे से अग्नि अलग धर, मन्त्रपूर्वक आहूत करने को वैश्वदेव यज्ञ कहते हैं। (5) **अतिथियज्ञ:** अतिथि उसे कहते हैं कि जिसकी कोई निश्चित आने की तिथि नहीं अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आये तो उसे पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय जल देकर खानपान तथा उत्तमोत्तम पदार्थों से उसकी सेवा, शुश्रूषा करके उससे सत्योपदेश ग्रहण करें और अपने आचरण सुधारें। इनके अतिरिक्त किसी भी नाम से कोई 'महायज्ञ' नहीं होता। वेदों का 'परायण यज्ञ' होता है जिसमें वेद के सब मन्त्रों का उच्चारण होता है और प्रत्येक मन्त्र पाठ के अंत में आहुति प्रदान की जाती है। परायण का अर्थ होता है प्रारम्भ के अंत तक।

**27. योगः** महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर प्राप्ति के लिये मनुष्यों को अष्टांग योग का मार्ग बताया है। योग जीवन का एक महत्त्वपूर्ण दर्शन है, प्रदर्शन नहीं। संक्षिप्त में बताएँ तो इसके कुल आठ अंग (स्तर, भाग या सीढ़ियाँ) हैं: क्रम से यम, नियम, आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

[**नोटः** साधारणतः लोग आसन और प्राणायाम करने मात्र से स्वयं को योगी मान लेते हैं, लेकिन यह सोच बिल्कुल गलत है! वास्तव में ये दो 'आसन' और 'प्राणायाम' योग के दो अंग मात्र हैं, पूर्ण योग नहीं! योग साधना मनुष्य को 'समाधि' तक पहुँचाता है। समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिये साधक को सर्वप्रथम योगाचार्य की देख-रेख में पाँच यमों और पाँच नियमों का पालन करना होता है। यम और नियमों को पालन करने के पश्चात् ही, योगाभ्यासी को आगे के अंगों का क्रमशः पालन करना चाहिये अन्यथा वह मात्र प्रदर्शन होता है। आजकल बाजारों में धन बटोरने के लिए अनेक प्रकार की 'योग' नाम से 'योग की क्लासें' चलाई जाती हैं। उनसे सावधानी बरतें। योग की ट्रेनिंग सही योग्य योगाचार्य से ही लेनी चाहिये!]

इन गुणों को प्राप्त करने के लिये यम और नियम का यथावत पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। तत्पश्चात् आसन और प्राणायाम द्वारा अपने शरीर और मन को बलवान तथा शांत करें। इसी विषय में आगे चलकर

मनुष्य प्रत्याहार की स्थिति को प्राप्त करता है अर्थात् मन तथा इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास किया जाता है। तदनंतर धारणा की स्थिति आरम्भ होती है अर्थात् ईश्वर के गुणों व कृपा का विचार करते हुए ईश्वर के निज नाम 'ओ३म्' का जाप करना। यहीं से समाधि की तैयारी प्रारम्भ होती है। ध्यान अर्थात् निराकार ईश्वर के गुणों का विचार करते हुए ध्यान लगाने का अभ्यास किया जाता है। निरंतर अभ्यास से व्यक्ति समाधि की स्थिति को प्राप्त कर सकता है और जीवन में सुख प्राप्त करता हुआ मोक्ष की अवस्था को प्राप्त होता है जहाँ उसे आनन्द का अनुभव होता है–यही सभी मनुष्यों का धर्म है तथा इसी से आत्मीय सुख (आनन्द) को प्राप्त किया जा सकता है। यही मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य भी है।

आठ अङ्ग=आठ प्रकार के स्तर

( 1 ) **यमः** (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह)

( 2 ) **नियमः** (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर- प्रणिधान।)

( 3 ) **आसनः** बैठने के प्रकार जैसे पद्मासन आदि।

( 4 ) **प्राणायामः** विभिन्न प्रकार के प्राणायाम करने के तरीके। श्वास को भी नियंत्रित करने के तरीके।

( 5 ) **प्रत्याहारः** बाहरी सांसारिक विषय-वासनाओं से स्वयं को दूर रखना।

( 6 ) **धारणाः** समाधि की तैयारी करने का निश्चय

करना। अभ्यास करना।

**( 7 ) ध्यानः** ईश्वर के प्रिय निज नाम 'ओ३म्' का जाप करना और समाधि की अवस्था को प्राप्त करना।

**( 8 ) समाधिः** यह योग की अंतिम सीढ़ी है। 'ध्यान' की स्थिति को लगातार बनाये रखने का नाम 'समाधि' कहाता है। जैसे दीपक की लौ हवा धीमी होने पर एकटक सीधी खड़ी हो जाती है, उसी प्रकार मन को लगातार ईश्वर में लगाये रखने को और उसके आनन्द में मग्न होने को 'समाधि' कहते हैं।

जो साधक सच्ची लगन से उपरोक्त अंगों का पालन करता है वह एक दिन बहुत अच्छा योगी बनकर मुक्ति को प्राप्त होता है। योग का लक्ष्य समाध्यावस्था को प्राप्त करना है। आजकल लोगों ने धन बटोरने के विभिन्न प्रकार के मन-घड़न्त अलग-अलग नामों से योग का business (धंधा) प्रारम्भ किया हुआ है जैसे 'राज-योग', 'ध्यान योग', 'कर्म-योग', 'भक्ति-योग', 'शक्ति-योग', 'शिव-योग', आदि।

विभिन्न शास्त्रों में 'योग की परिभाषाः

1. महर्षि पतंजलिः **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"** (पतंजलि. यो. सू. 1/2) अर्थात् "चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।"

2. **"योगः कर्मसु कौशलम्।"** (गीता 2/50) अर्थात् 'कर्म करने की कुशलता ही योग है।'

**"समत्वं योग उच्यते।"** (गीता 2/48) अर्थात्

'सुख- दुःख, हानि-लाभ, सफलता-असफलता आदि द्वन्द्वों में सम रहते हुए निष्काम भाव से कर्म करना ही योग है।'

**"दुःख संयोगवियोगं योग संज्ञितम्।"** (गीता 6/23) अर्थात् 'जो दुःख रूप संसार के संयोग से रहित है उसका नाम योग है।'

3. महोपनिषद् के अनुसार: **"मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते।"** (महो० 5/42) अर्थात् "मन के प्रशमन के उपाय को योग कहते हैं।"

4. महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार: **"संयोग योगयुक्तो इति युक्तो जीवात्मा परमात्मनो।"** अर्थात् 'जीवात्मा और परमात्मा के मिलन को ही योग कहते हैं।'

5. कैवल्योपनिषद् के अनुसार: **"श्रद्धाभक्तिध्यान योगादवेहि।"** अर्थात् 'श्रद्धा, भक्ति, ध्यान के द्वारा आत्मा का ज्ञान ही योग है।'

6. विष्णुपुराण के अनुसार: **"योगः संयोग इत्युक्तः जीवात्मा परमात्मनो।"** अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्णतः मिलन ही योग है।'

**विशेष:** 'योग' के विषय पर पुस्तकालयों में अनेक लेखकों तथा योग गुरुओं ने अपनी-अपनी पुस्तकें उपलब्ध कराई हैं। हम अपने प्रिय पाठकवृन्द से विनती करते हैं कि वे अपने योग गुरुओं से संपर्क कर योग्य गुरु जनों की पुस्तक खरीदें और ध्यानपूर्वक स्वाध्याय करके अपने योग गुरुओं के निगरानी में ही कोई क्रिया करें! महर्षि पतंजलि का 'अष्टाङ्ग योग' अवश्य ही

खरीद कर पढ़ना चाहिये।

—मदन रहेजा

**28. पूजा-श्राद्ध-तर्पण:** पितरों अर्थात् जीवित माता, पिता, गुरु, विद्वान् अतिथि, पति-पत्नी अर्थात् पति के लिये उसकी धर्मपत्नी और पत्नी के लिये उसका पति—इन पाँच मूर्तिमान देवी-देवताओं की सच्ची भावना (मन-वचन-कर्म) से आदर-सत्कार करना तथा उनकी यथायोग्य आज्ञाओं का पालन करना ही उनकी 'पूजा' कहाती है। पूजा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। किसी भी चेतन या जड़ वस्तु की पूजा उसके सन्दर्भ और पूरे वाक्य के अर्थ के अनुसार ही करनी चाहिये। सत्य भावना से किये गए कर्म को 'श्राद्ध' कहते हैं। पितरों अर्थात् जीवित माता-पिता तथा अपने सम्पर्क में आने वाले बड़े-बुजुर्गों को अपने मन, वचन और कर्म से हर प्रकार से प्रसन्न रखना ही 'तर्पण' कहाता है। श्राद्ध एवं तर्पण जीवितों का ही हो सकता है, मृतकों का नहीं। मृतकों के नाम पर या उनकी स्मृति में पण्डों, पण्डितों, ब्राह्मणों को भोजन कराना, वस्त्र तथा धन इत्यादि प्रदान करने का नाम 'श्राद्ध नहीं, मात्र पाखण्ड और दिखावा होता है। बेबस, लाचार, असहाय, भूखे तथा निर्धन व्यक्ति को भोजन खिलाना पुण्य का काम है। उपरोक्त मूर्तिमान देवी-देवताओं की यथायोग्य इच्छाओं की पूर्ति अर्थात् तृप्ति करना ही 'तर्पण' कहाता है।

**29. संस्कार:** मनुष्य के अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार के समुदाय को अन्तःकरण कहते हैं)

पर कहे, सुने, किये का प्रभाव पड़ता रहता है और बार-बार करने से वही आदतें बन जाती हैं। आदत और संस्कार में बहुत अन्तर है। संस्कारों से मनुष्य सुसंस्कारी अर्थात् उत्तम बनता है। वैदिक धर्मानुसार मनुष्य को 'सोलह संस्कार' अवश्य करने चाहियें क्योंकि इनके करने से आत्मा, मन और शरीर उत्तम बनते हैं। सोलह संस्कार हैं–1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमान्तोनयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. मुण्डन, 9. कर्णवेध, 10. उपनयन, 11. वेदारम्भ, 12. समावर्तन, 13. विवाह, 14. वानप्रस्थ, 15. संन्यास और 16. अन्त्येष्टि। अन्त्येष्टि के पश्चात् ईश्वरीय न्यायव्यवस्थानुसार दिवंगतात्मा अपने किये शुभाशुभ कर्मों के आधार पर अगली योनि में प्रवेश करता है।

**30. भक्ष्याभक्ष्य:** मनुष्य शरीर तथा उसके धर्म के लिये शाकाहारी भोजन करना 'भक्ष्य' है तथा मांसाहार करना 'अभक्ष्य' होता है। विज्ञान की कसौटी पर भी परखें तो मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा उसके शरीर की रचना शाकाहारी भोजन के अनुरूप है। जंगल में रहने वाले अनेक मांसाहारी पशुओं के शरीर की बनावट मात्र मांसाहार के अनुरूप होती है। जितने भी शाकाहारी पशु हैं वे भूखे रहेंगे परन्तु किसी भी परिस्थिति में मांसाहार नहीं करेंगे। जैसे बैल गाड़ी को चलने के लिए पेट्रोल या ईंधन की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु पशुओं को पेट भर चारा दिया जाता है। और मोटर-गाड़ी के लिए उसी

मॉडल के अनुसार पेट्रोल या डीजल की जरूरत होती है, वैसे ही मनुष्य और पशुओं का भोजन भी उनके शरीर की बनावट के अनुसार ही होता है। विज्ञान की कसौटी पर भी परखें तो मनुष्य के शरीर की रचना शाकाहारी भोजन के लिये है। मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है, परन्तु क्या वह सर्वश्रेष्ठ प्राणी है? मूक पशुओं की हत्या करके उनका मांस भक्षण करना जंगलीपना, अवैज्ञानिक एवं अशास्त्रीय है। *युग-प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में 'जो हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल, कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा, धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है' (सत्यार्थप्रकाश: दशम समुल्लास)।

**31. चमत्कार:** अनहोनी घटना को चमत्कार कहते हैं जो कभी नहीं होते और न ही कभी हो सकते हैं। यह सृष्टि ईश्वर के बनाए नियमानुसार ही चलती है। प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई घटना घट नहीं सकती। होनी (प्रकृति नियमानुसार जो होना है) कभी अनहोनी नहीं होती और अनहोनी (प्रकृति नियम के विरुद्ध) भी कभी होनी नहीं हो सकती। प्रकृति नियमानुसार रात्रि के बाद दिन और दिन के बाद रात्रि होती है, इस को कोई टाल नहीं सकता। मृत्यु होने पर फिर वह मृत शरीर जीवित नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रकृति नियम के विरुद्ध है। मनुष्य स्वभाव से अल्पज्ञ है अतः सृष्टि में किसी नई घटना

को देखकर वह उसे चमत्कार समझने की भूल करता है। वास्तव में अपने-आप कुछ नहीं होता। प्रत्येक घटना के पीछे कोई न कोई कारण होता है। **कारणभावत्कार्य-भावः** (वैशेषिक दर्शनः 4-1-3) अर्थात् कारण होने पर ही कार्य सम्भव होता है क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। वैज्ञानिक लोग प्रकृति के नियमों को समझने के पश्चात् उसे 'विज्ञान' के रूप में स्वीकार करते हैं।

**32. अन्धविश्वासः** कभी किसी की कही-सुनी बातों पर बिना परीक्षण के विश्वास नहीं करना चाहिये। प्रकृति नियम के विरुद्ध किसी भी बात पर विश्वास करने को 'अन्धविश्वास' एवं 'अन्धश्रद्धा' कहते हैं। मूर्तिपूजा, छुआ-छूत, जाति-पाति, जादू-टोना, डोरा-धागा, कण्ठी-तावीज, शकुन-अपशकुन, जन्मपत्री, फलित ज्योतिष, हस्तरेखा, नवग्रहपूजा, बलिप्रथा, सतीप्रथा, मांसाहार, मद्यपान, मृतक-श्राद्ध इत्यादि अवैदिक और अवैज्ञानिक बातों को मानने का वैदिक धर्म में निषेध है। अज्ञानता के कारण ही अन्धविश्वास फैलता है।

**33. सृष्टिकाल गणनाः** वैदिक मान्यतानुसार सृष्टि-काल 4,32,00,00,000 (चार अरब, बत्तीस करोड़) वर्ष का होता है जिसे ब्रह्मा का एक दिन या कल्प कहते हैं और उतना ही समय ब्रह्म-रात्रि का होता है जिसे प्रलय काल भी कहते हैं। 360 ब्रह्मदिन एवं ब्रह्मरात्रियों का एक ब्रह्मवर्ष होता है जिसे 'परान्तकाल' या 'मोक्षकाल' भी

कहते हैं। मोक्ष की अवधि को 'परान्तकाल' कहते हैं जो 31,10,40,00,00,00,000 (31 नील, 10 खरब और 40 अरब) वर्ष की होती है अर्थात् 'सृष्टि और प्रलय' का क्रम 36000 बार तक चलता रहे, उतने समय तक के लिए मुक्तात्मा, परमात्मा के रंग में रंगा रहता है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर (1000 चतुर्युगियाँ) और एक मन्वन्तर में 71 चतुर्युगियाँ होती हैं। एक चतुर्युगी में सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलयुग होते हैं जो क्रमशः आते-जाते रहते हैं। **(यजु० 30/18, अथर्व० 10/7/9)**।

**34. मोक्षकाल गणना:** जीवन-मरण के चक्र से परान्तकाल तक मुक्त होना ही मोक्ष कहाता है। मोक्षा-वस्था में सब दुःखों का नितान्त विच्छेद होता है **(ऋ०10/5/5) (अथर्व० 10/2/26, 10/2/27, 10/2/30)** जिसके लिये 'ज्ञान, कर्म और उपासना' इन तीनों का होना आवश्यक है। जब मनुष्य तीनों अनादि तत्त्वों की सही जानकारी (ज्ञान) प्राप्त करता है तो उसमें विवेक आता है, विवेक से वैराग्य तथा वैराग्य से वह राग-द्वेषादि वासनाओं से मुक्त होता है और ईश्वरोपासना में आनन्द की अनुभूति करने लगता है। यहीं से वह मोक्ष (सब प्रकार के दुःखों से मुक्ति) के मार्ग का राही बनता है। मृत्यूपरान्त वह शरीर से मुक्त होकर मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त होता है। मुक्तावस्था में मुक्तात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में कभी भी,

कहीं भी, पूर्ण स्वतन्त्रता से भ्रमण करता है। परान्तकाल के पश्चात् आत्मा लौटकर पुनः मनुष्य योनि में आता है। स्मरण रहे कि मोक्षावस्था में आत्मा परमात्मा से मिलता है, परमात्मा में नहीं मिलता। दोनों का आपस में मिलन होता है, एक दूसरे में विलय नहीं।

*सृष्टि काल=432 करोड़ वर्ष। *प्रलय काल=432 करोड़ वर्ष।

सृष्टि काल+प्रलय काल=864 करोड़ वर्ष। *मोक्ष काल=36000 हज़ार बार सृष्टि काल व प्रलय काल=36000×864=31, 10, 40,00,00,00,000 अर्थात् 31 नील, 10 खरब और 40 अरब पृथ्वी के वर्ष। मोक्ष काल का ही पर्यायवाची शब्द है **परान्तकाल।**

**35. पूजा-पाठ एवं ईश्वरोपासना:** 'पूजा' का अर्थ अलग-अलग संदर्भ में अलग-अलग होता है जैसे आज्ञा-पालन करना, सदुपयोग करना, भूख मिटाना, शिक्षा या दण्ड प्रदान करना इत्यादि। 'उपासना' अर्थात् समीप बैठना। ईश्वर की पूजा अर्थात् ईश्वरीय वाणी 'वेद' की आज्ञाओं का पालन करना। ईश्वरोपासना अर्थात् ईश्वर के सान्निध्य में आनन्द की अनुभूति करना। परमात्मा और जीव (आत्मा) दोनों चेतन हैं तथा प्रकृति जड़ है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है, जीवात्मा आनन्दरहित है। आत्मा सदा से आनन्द की तलाश में रहता है। 'आनन्द' आत्मा की अनुभूति का विषय है। आनन्द प्रकृति का गुण नहीं, परमात्मा का गुण है जिसकी अनुभूति मात्र चेतन आत्मा

ही कर सकता है। जड़ वस्तुओं की उपासना अर्थात् उनके समीप रहने से या सम्पर्क में आने से आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती इसलिये वैदिक धर्म में मूर्तिपूजा का निषेध है। जड़ वस्तुओं की उपासना या मूर्तिपूजा से मस्तिष्क में जड़ता, नास्तिकता एवं समय का दुरुपयोग होता है। ईश्वर के गुणों का ध्यान करना, उन गुणें को अपने जीवन में धारण करना ही ईश्वर की सच्ची 'उपासना' है जिससे मनुष्य सदा सुखी और आनन्दित रहता है।

**36. नमस्ते या नमस्कारः** वैदिक संस्कृति और सभ्यता में 'नमस्ते' करना अर्थात् किसी का अभिवादन करने का एक अभिन्न अंग तथा प्रतीक माना जाता है। हम जिस व्यक्ति का आदर-सममान करते हैं, करना चाहते हैं, उसका सदैव अभिवादन करना चाहिये। धर्मप्रिय व्यक्ति जब भी परस्पर मिलते हैं तो एक-दूसरे से हाथ जोड़कर 'नमस्ते' बोलकर एक-दूसरे का अभिनंदन (स्वागत) करते हैं। व्याकरण के अनुसार 'नमस्ते' एक (Verb) क्रिया है और 'नमस्कार' एक संज्ञा अर्थात् Noun है। अतः जब किसी का अभिनन्दन करें तो उसे 'नमस्कार' नहीं 'नमस्ते' बोलना चाहिये अर्थात् 'मैं आप का अभिनन्दन करता/करती हूँ।' बड़ी उम्र का व्यक्ति यदि किसी छोटी आयु के बच्चे से 'नमस्ते' करता है तो उसका अर्थ होता है कि 'मैं तुम को आशीर्वाद देता हूँ।' यदि छोटा बच्चा अपने से बड़ी आयु के व्यक्ति को

नमस्ते करता है तो उसका अर्थ होता है कि 'मैं आपको प्रणाम करता हूँ और आशीर्वाद चाहता हूँ।' यदि समान आयु वाले मित्र आपस में नमस्ते करते हैं तो उसका अर्थ होता है कि "हम एक-दूसरे का सम्मान करते हैं और मित्रता करते हैं।" अपरिचित व्यक्ति से भी जब भी मिलें तो सदैव 'नमस्ते' अवश्य किया करें।

**37. प्राकृतिक अपरिवर्तनशील नियमः** (1) ईश्वर के बनाए प्रकृति के नियम अटल, अपरिवर्तनशील होते हैं। कोई भी (बाबा, बापू, संत, फ़कीर, महात्मा, गुरु, पीर, पैग़म्बर, भगवान इत्यादि) उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। (2) जो वस्तु बनती है, उसका विनाश (नष्ट नहीं, रूपान्तर) होता है। (3) जिसका आदि है उसका अन्त निश्चित है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी अवश्यमेव होती है **( ऋ० 1/41/1 )**। जन्म और मृत्यु का अटूट सम्बन्ध है। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु होनी ही है तथा जिसकी मृत्यु हुई है, उसका जन्म अवश्य ही होगा। (4) जिसका आरम्भ होता है उसका अन्त अनिवार्य है अतः मोक्ष काल सदा के लिये नहीं होता, उसका भी अन्त होता है। (5) आत्मा अनादि, अमृत्य और नित्य है। मृत्यु शरीर की होती है जो अन्त्येष्टि संस्कार के दौरान अग्नि के द्वारा अपने कारण पञ्च-महाभूतों में रूपान्तरित हो जाता है। (6) जब तक आत्मा शरीर में रहता है तब तक उसमें कार्य करने की क्षमता रहती है और जैसे ही वह शरीर को त्यागता है उस

शरीर की मृत्यु होती है अर्थात् उस मृत शरीर में कार्य करने की क्षमता समाप्त हो जाती है। (7) किया हुआ कोई भी कर्म बेकार नहीं जाता, उसका फल अवश्यमेव प्राप्त होता है। कब, कहाँ, क्यों और कैसे–मात्र सर्वज्ञ परमात्मा ही जानता है। कर्मफल के सब रहस्यों को समझना अल्पज्ञ मनुष्य की समझ के बाहर है। (8) सामान्य तौर पर, शुभ तथा अशुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को सुख और दुःख प्राप्त होते हैं अर्थात् शुभ कर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का दण्ड दुःख होता है। (9) यह प्राकृतिक नियम एवं वैज्ञानिक तथ्य है कि 'चेतन तत्त्व से जड़ वस्तु की उत्पत्ति अथवा जड़ से चेतन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती" यह असम्भव है। (10) स्त्री–पुरुष के शारीरिक मिलन बिना संतानोत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में सन्तानोत्पत्ति के लिये पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज का संयोग परमावश्यक है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों (पशु–पक्षी या अन्य जीव जन्तुओं) में भी यही नियम समझना चाहिए। (कुछ ऋतुओं में देखा गया है कि कुछ जीव–जन्तु स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं–उसकी हमें पूरी तरह से जानकारी नहीं है–ईश्वर ही जानता है।)

**38. वैदिक धर्मः** मनुष्य मात्र के लिये 'वैदिक धर्म' एक ही होता है और उसके सब सिद्धान्त या नियम सृष्टि क्रमों के अनुकूल तथा वैज्ञानिक होते हैं। बिना इन सिद्धान्तों के कुछ भी सम्भव नहीं है।

बेतुकी बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिये। इसी को अन्धविश्वास कहते हैं। दूसरे मत-मज़हबों के बारे में कुछ कह नहीं सकते! सत्य पर विश्वास करना और असत्य पर अविश्वास करना ही मनुष्यता है। अन्य मतों (तथाकथित धर्म) के बहुत से सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरे नहीं उतरते!

**39. कर्म-फल सिद्धान्तः कारणभावत्कार्यभावः** (वैशेषिक दर्शनः 4-1-3) अर्थात् कारण होने पर ही कार्य सम्भव होता है क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। न तु **कार्याभावात्कारणाभावः** (वै० द० 1-2-1) अर्थात् कार्य के अभाव से कारण का अभाव होता है। कारणाऽभावात्कार्याऽभावः (वै० द० 1-2-1) अर्थात् कारण न होने से कार्य कभी नहीं होता।

**40. ध्यान और समाधिः "जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला, जिस मन से, जिस चीज़ का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा**

**मग्न हो जाता है। वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारकर थोड़ा समय भीतर ही रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)**

**41. मूर्ति-पूजा या पाषाण पूजाः** वैदिक धर्म में पाषाण वस्तुओं से चेतन जैसा व्यवहार करना वर्जित है अर्थात् किसी भी जड़ मूर्ति या शिल्पकारी की पूजा करना अर्थात् उसके साथ चेतन जैसे व्यवहार करना अन्धविश्वास समझा जाता है। किसी भी वस्तु के साथ उसके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल ही व्यवहार करना उचित है। जैसे तुलसी एक गुणकारी औषधि है उसका उचित प्रयोग/उपयोग करना लाभकारी होता है, परन्तु यदि आप उसकी आरती उतारें या हाथ जोड़कर उससे कोई माँग करें तो ये महा मूर्खता कहलाई जाएगी। वस्तु का यथावत उपयोग करना ही उसकी पूजा कहलाती है।

**मूर्तिः** मूर्ति जड़ और चेतन दोनों ही प्रकार की होती हैं। निर्जीव वस्तुएँ जड़ होती हैं और जिसमें आत्मा का वास होता है उनको चेतन कहते हैं। माता, पिता, गुरु, आचार्य, विद्वान् अतिथि, पति-पत्नी एक-दूसरे के लिये मूर्तिमान देवता होते हैं। सबसे बड़ा देव तो परमपिता परमात्मा होते हैं। इन सब की पूजा अर्थात् उचित आज्ञाओं का पालन करना हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, धर्म है।

**पूजा का अर्थ होता है:** योग्य आज्ञाओं का यथावत् पालन करना, सेवा करना, शुश्रुषा करना, सम्मान करना, उपयोग करना, शिक्षा देना, दण्ड देना, तृप्ति करना, नसीहत देना आदि-आदि। जहाँ-जहाँ पूजा शब्द का उपयोग होता है वहाँ-वहाँ पाठकवृन्द सही-सही अर्थ निकाल सकते हैं।

**मूर्ति पूजा:** पाठकवृन्द स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि क्या पाषाण की मूर्ति जीवित देवताओं की तरह व्यवहार कर सकते हैं? क्या मूर्ति कुछ खा सकती है, कुछ सूँघ सकती है, फिर उसके सामने इतना पाखंड करने की ज़रूरत क्या है? मंदिरों में लाखों करोड़ों रुपये फ़िज़ूल में बर्बाद किये जाते हैं, लोगों को लूटा जाता है पर सब कुछ जानते हुए भी लोग लुटते जाते हैं। ग़रीबों को लूटा जाता है। **'मूर्तिपूजा'** पर मेरी भी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है उसे पाठकवृन्द पढ़ सकते हैं। ईश्वर की उपासना करनी चाहिये। वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना ही ईश्वर की सही पूजा है अर्थात् जो वेदों में लिखा है उसका पालन करना ही ईश्वर की पूजा है।

**नोट:** कर्म-फल की अधिक जानकारी के लिये इच्छुक पाठकगण को मेरी विशेष पुस्तकें 'शंका समाधान', 'अन्धविश्वास निर्मूलन' एंव 'Back to the Vedas' and 'Eradication of Superstitions' अवश्य पढ़नी चाहिये!

**शंका:** सृष्टि की आदि में परमपिता परमात्मा, मनुष्य

के जानने योग्य पूरा ज्ञान (चार वेद) प्रदान करने के लिये, पूर्व कल्प की भाँति, मात्र चार (अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा) ऋषियों को ही क्यों चुनता है और बिना वाणी के उनको ज्ञान कैसे देता है?

**समाधानः** यह बहुत ही रोचक और जिज्ञासा पूर्ण शंका है और इस प्रकार के प्रश्न प्रायः सभी जिज्ञासु पूछते रहते हैं। आपके लिये इस शंका का समाधान करने का प्रयास करते हैं जिससे आपको लाभ होगा और आनन्द भी प्राप्त होगा।

आप जानते ही हैं कि ईश्वर प्राप्ति के लिये साधक को योग के कठिन मार्ग पर चलकर यम, नियम इत्यादि के रास्ते समाधि तक का मार्ग पार करना पड़ता है, जहाँ वह परम पिता परमात्मा के दिव्य दर्शन प्राप्त करता है अर्थात् ईश्वर से रूबरू होता है, अन्य अर्थों में वह ईश्वर के सीधे संपर्क में आता है और उस ईश्वर के अनन्त आनन्द में मग्न हो जाता है। ईश्वर का ज्ञान उस समाधिस्थ योगी में स्वयं ही उतरने लगता है, उसकी समस्त जिज्ञासाएँ समाप्त होने लगती हैं—जिसकी उसे जन्म-जन्मांतरों से तलाश थी। जिस प्रश्न या जिज्ञासा को जानना चाहता है उसे उसका उत्तर बिना माँगे मिल जाता है।

सृष्टि के वे चार आदि ऋषि मन्त्र-द्रष्टा होते ही हैं, वे आसानी से ईश्वरीय वाणी को ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार से अग्नि ऋषि को ऋग्वेद का समस्त ज्ञान प्राप्त होता है, उसी प्रकार वायु ऋषि को यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त होता

है, वैसे ही आदित्य ऋषि को सामवेद और अङ्गिरा ऋषि को अथर्ववेद का ज्ञान प्राप्त होता है। (अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा–ये ऋषियों के नाम या उसकी उपाधियाँ भी हो सकती हैं।) वेदों का वह ज्ञान ऋषियों के हृदय में ईश्वर प्रदान करता है। जैसे हमारे मस्तिष्क में अनेक प्रश्न और उनके उत्तर आते रहते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के आदि में उन चार ऋषियों के हृदय में ईश्वरीय ज्ञान समाता रहता है। वेद ज्ञान सदा से है और सब मनुष्यों के लिये होता है। जो वहाँ (समाध्यवस्था या मुक्तावस्था) में पहुँचता है उसकी सब शंकाएँ/जिज्ञासायें पूर्ण हो जाती हैं।

[**विशेषः** 'आर्यसमाज' के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की जीवनी देखेंगे तो उस में भी यह उल्लेख पढ़ने को मिलता है कि जब कभी स्वामी जी को कोई शंका होती थी तब वे एकान्त में जाकर समाध्यवस्था में चले जाते थे और कुछ समय बाद वे वापस अपने शिष्यों के बीच आकर उस शंका का समाधान करते थे।]

आप जानते ही हैं कि जब हम कुछ भूलने लगते हैं तो कुछ समय के लिए शान्त होकर ध्यान करते हैं तो उस समय हमें अनेक पुरानी बातें भी स्मरण हो जाती हैं, भूली–बिसरीं बातें भी याद आने लगती हैं वैसे ही सृष्टि की आदि में ईश्वर उन आदि ऋषियों को अनेकानेक बातें स्मरण कराता है। ये सब ईश्वर की प्रेरणा से ही सम्भव होता है। इसका प्रमाण वेदों के अनेक मन्त्रों से भी प्राप्त होता है।

चार ऋषि ही क्यों? जितनी-जितनी शिक्षा (पढ़ाई) उच्च कोटि की होगी सामान्य तौर पर उसके शिक्षार्थी भी कम संख्या में उम्मीदवार होते जाते हैं। "वेद" विद्या ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार हैं अतः उन्हें समझने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है-यही कारण है कि सृष्टि के आदि में उपरोक्त चार ऋषि ही योग्य रहे होंगे या हर सृष्टि की आदि में सबसे योग्य चार ऋषि ही रहते होंगे जो इस स्तर पर पहुँचते होंगे जो ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

जब हम लिखते हैं तो पहले मस्तिष्क में सोचते हैं, उनके योग्य शब्दों का चयन करते हैं, फिर कागज़ पर लिखते हैं। इसी प्रकार आदि ऋषियों ने अपने-अपने प्राप्त ज्ञान (वेद) को लिपि बद्ध करके, मस्तिष्क में उतारा, फिर कागज़ पर लिखा और अन्त में पुस्तकों के माध्यम से जन-साधारण के हितार्थ प्रस्तुत किया।

जैसे-जैसे विज्ञान ने तरक्की की है, वैसे-वैसे मनुष्य ने नये-नये तरीकों का आविष्कार करके ज्ञान-विज्ञान को भविष्य के लिये सुरक्षित रखा है। उम्मीद है, आप सबने अच्छी तरह समझा होगा।

## श्री मदन रहेजा की अन्य पुस्तकें :

(1) शंका समाधान (1996)
(2) अन्धविश्वास निर्मूलन (1998)
(3) Quest-The Vedic Answers
(4) Eradication of Superstition
(5) Peace of Mind
(6) Religious Guide
(7) Back to the Vedas
(8) मेरी अन्तिम यात्रा
(9) यज्ञपद्धति (कब, कहाँ, क्यों और कैसे)
(10) वैदिक मन्त्रमाला
(11) वेदों की वाणी-सन्तों की जुबानी
(12) सुविचार
(13) सत्यार्थ प्रश्नोत्तरी
(14) धार्मिक भ्रष्टाचार (Unpublished)
(15) सत्य सनातन वैदिक धर्म
(16) पाखण्ड खण्डिनी पताका (xpulished)
(17) यज्ञ-कैसे, कब, कहाँ (Latest 2017)
(18) वैदिक यज्ञ पद्धति (आचार संहिता)
(19) वैदिक गणपति
(20) मूर्तिपूजा या ईश्वरोपासना
(21) जन्म से पहले-मृत्यु के बाद

(22) बाल शंका समाधान
(23) बाल प्रश्नोत्तरी
(24) Children's Quest
(25) Mystery of Death (Latest 2017)
(26) प्रवचन
(27) जिज्ञासा समाधान (1-100)
(28) जिज्ञासा समाधान (101-200)
(29) जिज्ञासा समाधान (201-300)
(30) एक वाक्य में समाधान
(31) मेरी विदेश यात्रा
(32) जय माता दी
(33) वैदिक धर्म Guide
(34) मृत्यु के बाद
(35) The Guru
(36) मेरे लेख संग्रह
(37) वैदिक धर्म Guide (2018)
(38) तीन प्रश्न
(39) To be announced soon

# मदन रहेजा का संक्षिप्त परिचय

**श्री मदन रहेजा** जैसे सशक्त लोकप्रिय लेखक एवं 'आर्य समाज' के सक्रिय वैदिक विद्वान का परिचय देते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। मेरा उनसे गत अनेक वर्षों से परिचय है। **"आर्य समाज सान्ताक्रुज़"** में उनका आगमन सर्वप्रथम सन् 1984 में हुआ और तब से ही वे सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध होकर अनेक वर्षों तक सह-मन्त्री बने रहे और सन 2005 की साधारण सभा ने उन्हें सर्वसम्मति से "उप-प्रधान" के रूप में स्वीकार किया है।

**श्री मदन रहेजा** का जन्म अविभाजित भारत के सक्खर-सिन्ध प्रान्त में सन् 10 दिसम्बर 1941 में हुआ। उन्होंने अपनी प्राथमिक शिक्षा मुम्बई में तथा Mechenical Engineering की शिक्षा कोटा-राजस्थान से प्राप्त की है। इंजिनियर होते हुए भी वे गत् 45 वर्षों से मुम्बई में Fashion Designer के व्यवसाय में कार्यरत रहे हैं विशेषतः Bollywood में।

**श्री मदन रहेजा** एक पौराणिक आदर्श सिन्धी (हिन्दू) परिवार [माता श्री. स्व० कलावती किशनदास रहेजा (1914-1984) एवं पिता श्री. स्व किशनदास लालचन्द रहेजा (1906-1995)] से सम्बन्ध रखते हैं जिसमें परिवार के सभी सदस्य मूर्ति पूजा में बहुत विश्वास करते हैं। 'आर्य समाज' के सत्संगों से प्रभावित होकर श्री मदन रहेजा जी ने वेद तथा अनेक वैदिक

साहित्य का गहरा स्वाध्याय किया और उनसे प्रभावित होकर 1084 से ही अलग-अलग विषयों पर अनेक लेख लिखने प्रारम्भ कर दिये।

**श्री मदन रहेजा** जी की "वैदिक धर्म" में पूर्ण आस्था है और वे जो एक बार कहते हैं उसे पहले अपने व्यवहार में लाते हैं। वे किसी भी प्रकार के अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है–"परमेश्वर की असीम कृपा, मेरे माता-पिता का अटूट प्रेम और आशीर्वाद, मेरे आध्यात्मिक गुरु आर्य समाज के पुरोधा 'महर्षि दयानन्द सरस्वती' का अमर ग्रन्थ **'सत्यार्थ प्रकाश'** तथा अनेक वैदिक विद्वानों का मार्गदर्शन, मेरे परिवार और मित्रों का अमिट स्नेह एवं साथ, प्राप्ति के पश्चात् ही मैं अनेकानेक लेख और पुस्तकें लिखने में सफल हो पाया हूँ।"

मातृभाषा सिन्धी होने के अतिरिक्त श्री रहेजा जी हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और अंग्रेज़ी भाषा का अच्छा ज्ञान रखते हैं।

**श्री मदन रहेजा** प्रसन्नचित्त स्वभाव के व्यक्ति हैं, स्पष्टवादी, व्यवहारिक और किसी भी परिस्थति में असत्य और अन्याय के साथ समझौता नहीं करते। उनका अधिकतम समय धार्मिक लेखों तथा ग्रन्थों को पढ़ने और लिखने में ही व्यतीत होता है। उनके मुख्य शौक़ (Hobbies) हैं–स्वाध्याय करना, धार्मिक सत्संग

सुनना, Social media के माध्यम से अपने सभी मित्रों को वैदिक विषयों की जानकारी मुहैया कराना, नई-नई पुस्तकें लिखना, संगीत सुनना और देश-विदेश का भरपूर भ्रमण करना।

**श्री मदन रहेजा** को निम्नलिखित–"शंका समाधान", "अन्धविश्वास निर्मूलन", "वेदों की वाणी-सन्तों की ज़ुबानी", "वैदिक गणपति", "Quest—the Vedic Answer", "Back to the Vedas", "Eradication of Sueprstitions", "Peace of Mind", "Religious Gudie", "मेरी अंतिम यात्रा आदि 36 पुस्तकों के लेखन का श्रेय प्राप्त है और आपके हाथों में "वैदिक धर्म Guide" है उनकी 37 वीं पुस्तक! देश-विदेश की अनेक भाषाओं में उनके लेख और पुस्तकें अनुवाद करके प्रकाशित हुई हैं और होती रहती हैं।

**श्री मदन रहेजा** जी की आगामी शीघ्र प्रकाशित होने वाली विशेष पुस्तकों के शीर्षक हैं–'पाखण्ड-खण्डिनी-पताका'(अधर्म का पर्दाफ़ाश), 'क्या--कब-कहाँ-क्यों-कैसे' (Modern Spiritual तर्क-वितर्क) और अंग्रेज़ी में 'The Guru' (गुरु क्यों ज़रूरी?), 'Sprituality' आदि।

शुभ कामनाओं सहित

**प्रकाशक: अजय आर्य (दिल्ली)**

M/S Govindram Hasanand

# कुछ अनुपम पुस्तकें पुनः प्रकाशित

## स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती कृत

उपनिषद प्रकाश

## पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति कृत

अध्यात्म रोगों की चिकित्सा

भारतीय संस्कृति का प्रवाह

## पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ कृत

ओंकार निर्णय

## स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक कृत

आर्ष योगप्रदीपिका

वेदान्तदर्शन

सांख्यदर्शन

## पूज्य महात्मा नारायण स्वामी कृत

आत्मदर्शन

कर्मरहस्य

वेदरहस्य

**आचार्य विश्वश्रवाः कृत**

यज्ञपद्धति मीमांसा

**पं० सुरेशचन्द्र वेदालंकार कृत**

ईश्वर का वैदिक स्वरूप

**प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' कृत**

मौलिक भेद

**पं० आत्माराम अमृतसरी कृत**

सृष्टि विज्ञान

**Dr. Chiranjeeva Bharaddwaja (Translator)**

Light of Truth
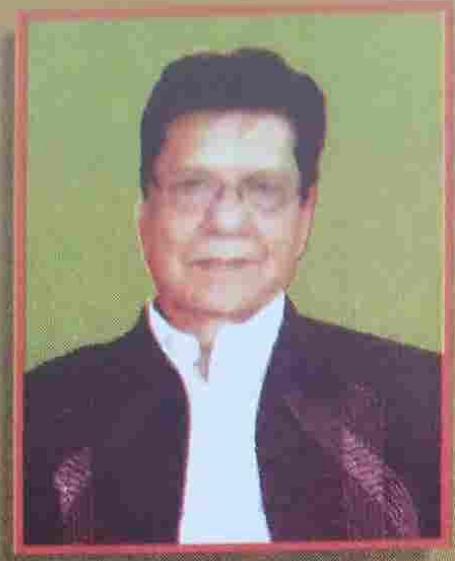
# मदन रहेजा

## वैदिक धर्म GUIDE

सर्वविदित है कि जिसका जन्म होता है वही मृत्यु को प्राप्त होता है और जो उत्पन्न नहीं होता उसकी मृत्यु का प्रश्न ही नहीं हो सकता।

मृत्यु से बचने का बस यही एक तरीका है जो हमें मात्र वेद सिखाता है कि दोबारा जन्म लेने से बचें। जन्म से बचने के लिए 'वैदिक धर्म' की शरण में जाना ही पड़ेगा।

वैदिक धर्म क्या है? उसके नियम और सिद्धान्त क्या हैं? कब से हैं? उसे क्यों जानें? क्यों मानें? कैसे मानें? ऐसे अनेक प्रश्न हो सकते हैं, अतः आईए वैदिक धर्म के बारे में चर्चा करके इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ते हैं।

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द